मोक्षमार्ग– त्रिरत्न : सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान–सम्यक्चारित्र

सम्यग्दर्शन

सर्म्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को ही प्रसिद्ध सूत्रकार उमास्वामी से मुक्ति का मार्ग बतलाया है। इन्हें **त्रिरत्न** और **धर्म** भी कहा गया है। असल में जो मुक्ति का मार्ग है– दुःखों और उनके कारणों से छूटने का उपाय है, वही तो धर्म है। उसी को हमें समझना है। दुःखों से स्थायी छुटकारा पाने के लिए सबसे प्रथम हमें यह दृढ़ श्रद्धान होना जरूरी है कि–

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावो सब्वे संजोगलक्खणा ।। 102 ।।– नियमसार

ज्ञानदर्शनमय एक अविनाशी आत्मा ही मेरा है। शुभाशुभ कर्मों के संयोग से उत्पन्न हुए बाकी के सभी पदार्थ बाह्य हैं– मुझ से भिन्न हैं, मेरे नहीं है।

आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं ––

" सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ।। 3 ।। " रत्नकरंडश्रावकाचार

अर्थात्–"धर्म के प्रवर्तक सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहते हैं। जिनके उलटे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसार के मार्ग हैं।"

सात तत्व, पुण्य, पाप; एवं द्रव्य, गुण, पर्यायः का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। मूलतः दो तत्व हैं– जीव और अजीव। चेतनालक्षण जीव है और उससे भिन्न अजीव। आत्म–कल्याण के लिए सात तत्व या नव पदार्थ प्रयोजनीय हैं। इनके स्वरूप का वास्तविक निर्णय कर प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है।

मुक्ति के लिये सात तत्वों पर दृढ़ आस्था का होना सम्यग्दर्शन है और उनका ठीक–ठीक ज्ञान होना ही सम्यग्ज्ञान है। ये दोनों ही आगे बढ़ने की भूमिका हैं, इनके बिना मुक्ति के लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है। जिस जीव को इस प्रकार का दृढ़ श्रद्धान और ज्ञान हो जाता है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं अर्थात् उसकी दृष्टि ठीक मानी जाती है। अब यदि वह आगे बढ़ेगा तो धोखा नहीं खा सकेगा। जब तक मनुष्य की दृष्टि ठीक नहीं होती– उसे अपने हिताहित का ज्ञान नहीं होता तब तक वह अपने हितकर मार्ग पर आगे नहीं बढ़ सकता। अतः प्रारम्भ में ही उसकी दृष्टि का ठीक होना आवश्यक है। इसीलिये सम्यग्दर्शन को मोक्ष के मार्ग में कर्णधार बतलाया है। जैसे नाव को ठीक दिशा में ले जाना खेने वालों के हाथ में नहीं होता, किन्तु नाव के पीछे लगे हुए डॉड का संचालन मनुष्य के हाथ में होता है। वह उसे जिधर को घुमाता है उधर को ही नाव की गति हो जाती है। यही बात सम्यग्दर्शन के विषय में भी जानना चाहिये। इसी से जैन सिद्धान्त में सम्यग्दर्शन का बहुत महत्व बतलाया है। इसके हुए बिना न कोई ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है और न कोई चारित्र सम्यक् चरित्र कहलाता है।

सम्यग्दर्शन के अंग

जिस प्रकार मानवशरीर में दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, पृष्ठ, उरस्थल और मस्तक– ये आठ अंग होते हैं और इन आठ अंगों से परिपूर्ण रहने पर ही मनुष्य काम करने में समर्थ होता है, इसी प्रकार अष्टांगयुक्त सम्यग्दर्शन का पालन करने से ही संसार–संतति का उन्मूलन होता है। इन आठ अंगों में वैयक्तिक उन्नति के लिए प्रारम्भिक चार अंग और समाज–सम्बन्धी उन्नति के लिए उपगूहनादि चार अंग आवश्यक हैं।

1–निःशंकित अंग–वीतराग–वचन पर दृढ़ आस्था रखना निःशंकित अंग है।

2–निःकांक्षित अंग– सांसारिक सुख की किसी प्रकार की आकांक्षा न करना निःकांक्षित अंग है।

3–निर्विचिकित्सा अंग– मुनिजन देह में स्थित होकर भी देह–सम्बन्धी वासना से अतीत होते है। अतः वे शरीर का संस्कार नहीं करते । उनके मलिन शरीर को देख ग्लानि न करना निर्विचिकित्सा–अंग है।

4–अमूढदृष्टि अंग– सम्यग्दृष्टि की प्रत्येक प्रवृत्ति विवेकपूर्ण होती है। वह किसी का अन्धानुकरण नहीं करता। यह तो श्रदालु तो होता है, पर अन्ध श्रदालु नहीं। अमूढ़दृष्टि अन्ध श्रद्धा का पूर्ण त्याग करता है।

5–उपगूहन अंग– अज्ञानी और अशक्त व्यक्तियों द्वारा रत्नत्रय और रत्नत्रय के धारक व्यक्तियों में आये हुए दोषों का प्रच्छादन करना उपगूहन अंग है।

6–स्थितीकरण अंग– साधर्मी बन्धु को धर्मश्रद्धा और आचरण से विचलित न होने देना तथा विचलित होते हुओं को धर्म में स्थित करना स्थितीकरण है।

7–वात्सल्य अंग– साधर्मी बन्धुओं के प्रति निश्छल और आन्तरिक स्नेह करना वात्सल्य है। इस गुण के कारण साधर्मी भाई निकट सम्पर्क में आते हैं और उनका संगठन दृढ़ होता है।

8–प्रभावना अंग– जगत् में वीतराग–मार्ग का विस्तार करना, धर्म–सम्बन्धी भ्रम को दूर करना और धर्म की महत्ता स्थापित करना प्रभावना है।

भगवती आराधना में शिवार्य ने कहा है– समस्त दुःखों का नाश करने वाले सम्यक्त्व में प्रमाद मत करो, क्योंकि ज्ञानाचार, चारित्राचार, वीर्याचार और तपाचार का आधार सम्यग्दर्शन है। जैसे नगर में प्रवेश करने पर उपाय उसका द्वार है, वैसे ज्ञानादि में प्रवेश करने का द्वार सम्दर्शन हैं, जैसे ऑखें मुख की शोभा बढ़ाती हैं वैसे ही सम्यग्दर्शन से ज्ञानादि की शोभा है। जैसे वृक्ष की स्थिति का कारण उसकी जड़ है वैसे ही सम्यग्दर्शन ज्ञानादि की स्थिति का कारण है।

मुक्ति की साधना का मूल कारण सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन से ही आध्यात्मिक विकास प्रारम्भ होता है। यह स्वाभाविक है कि जब तक लक्ष्य शुद्ध नहीं होता और दृष्टि निर्दोष नहीं बनती तब तक प्राणी की सारी जानकारी और उसके आधार पर किया जाने वाला प्रयास निष्फल है अतः सम्यग्दर्शन मुक्ति का प्रथम सोपान हैः **" मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी"।** जब अन्तःकरण में सम्यग्दर्शन की ज्योति प्रकट होती है तब अनादिकालीन मिथ्यात्वरूपी घोर अन्धकार सहसा विलीन हो जाता है और समग्र तत्व अपने वास्तविक रूप से उद्भासित होने लगते हैं। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से आत्मा के प्रति प्रगाढ़ रुचि उत्पन्न होती है। आत्मानुभूति एवं स्वसंवेदन का अनुभव होता है।

जीवादि तत्वों के श्रद्धान द्वारा आध्यात्मिक जागृति ही **सम्यग्दर्शन** है। यह आत्म–साधना का प्रथम सोपान है। आध्यात्मिक जागृति के बिना सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नहीं हो सकते। इसके बिना कठोर तप निष्फल होते हैं। जो महत्त्व नगर के लिए द्वार का, मुंह के लिए चक्षु का और वृक्ष के लिए जड़ का है, वही महत्त्व ज्ञान और चारित्र के लिए सम्यक् दर्शन का है। आध्यात्मिक जागृति से जीव में कई विषेषताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। वह निर्भयी हो जाता है। भय, लज्जा और लोभ से प्रेरित होकर वह हिंसा को उचित नहीं कहता है। वह सांसारिक सुखों की आकांक्षारहित होता है। नैतिक और आध्यात्मिक गुणों के विकास में वह अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है। उसके मन में सब जीवों के प्रति मैत्री, गुणीजनों में प्रषंसा का भाव और दुःखी जीवों के प्रति दया का भाव रहता है।

सम्यग्ज्ञान

सम्यग्दर्शन की तरह सम्यग्ज्ञान भी आत्मा का गुण है। वस्तुतः आत्मा का गुण तो ज्ञान है किन्तु वह सम्यक् भी होता है और मिथ्या भी होता है। दर्शनशास्त्र में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय को मिथ्याज्ञान कहा है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। मिथ्यादृष्टि का ज्ञान यर्थाथ नहीं है। क्योंकि उसे वस्तुस्वरूप की यर्थाथ प्रतीति नहीं है। वह संसार के स्वरूप को उसके यथार्थरूप में नहीं जानता। जो ज्ञान हेय रूप में और उपादेय को उपादेय रूप में जानता है वही ज्ञान सच्चा है। मूलाचार में कहा है कि जिससे वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जाये, जिससे मन की चचंलता रुक जाये, जिससे आत्मा विशुद्ध हो, उसे ही जिनशासन में ज्ञान कहा है। जिससे राग से विरक्ति हो, कल्याणमार्ग में अनुराग हो और सब प्राणियों में मैत्रीभाव हो, उसे ही जिनशासन में ज्ञान कहा है। आत्मा व अन्य द्रव्यों के स्वरूप को संशय आदि रहित जानना **सम्यग्ज्ञान** है। पदार्थों को जान लेने मात्र से ज्ञान को सम्यग्ज्ञान नहीं कहा गया है। जिस ज्ञान का स्वभाव आत्मा में लीन होना होता है, वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

ज्ञान का स्वरूप एवं भेद

जो जानता है वह ज्ञान है, जिसके द्वारा जाना जाए वह ज्ञान है अथवा जानने मात्र को ज्ञान कहते हैं। जो आत्मा है वह जानता है और जो जानता है वह आत्मा है। ज्ञान आत्मा का विशेष गुण है, यह आत्मा से पृथक उपलब्ध नहीं होता। जिस ज्ञान द्वारा प्रतिभासित पदार्थ यथार्थ उपलब्ध हो, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। वस्तुतः जिस–जिस रुप में जीवादि पदार्थ अवस्थित हैं, उस–उस रुप में उनको जानना सम्यग्ज्ञान है। सम्यक्पद से संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय को निराकृति हो जाती है। अतः ये ज्ञान सम्यक् नहीं है। सम्यग्ज्ञान का संबंध आत्मोत्थान के साथ है। जिस ज्ञान का उपयोग

आत्म–विकास के लिए किया जाता है और जो पर पदार्थों से पृथक कर आत्मा का बोध कराता है, वह सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान के पॉच भेद हैं :–

(1) **मतिज्ञान**–इन्द्रिय और मन के द्वारा यथायोग्य पदार्थों को जाननेवाला

(2) **श्रुतज्ञान**– श्रुतज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम होने पर, मन एवं इन्द्रियों के द्वारा अधिगम।

मन मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों का साधन है। यह श्रुत शब्द के माध्यम से पदार्थ को तो जानता ही है। साथ ही शब्द का सहारा लिए बिना शुद्ध अर्थ को भी जानता है। साधारणतः अर्थाश्रयी ज्ञान इन्द्रिय और मन दोनों को होता है। शब्दाश्रयी केवल मन को ही होता है। अतः स्वतन्त्ररुप में श्रुत मन का विषय है। श्रुतज्ञान को मतिपूर्वक माना जाता है। मतिज्ञान के निमित्त से श्रुतज्ञान की उत्पत्ति होता है। सर्वप्रथम पॉच इन्द्रिय और मन इनमें किसी एक के निमित्त से किसी भी विद्यमान वस्तु का मतिज्ञान होता है। तदनन्तर इस मतिज्ञानपूर्वक उस ज्ञात हुई वस्तु के विषय में या उसके सम्बन्ध से अन्य वस्तु के विषय में विशेष चिन्तन आरम्भ होता है, यह श्रुतज्ञान कहलाता है।

(3) **अवधिज्ञान**– परिमित रूपी पदार्थ को इन्द्रियों की सहायता के बिना जाननेवाला ज्ञान। यह अवधिज्ञान पुद्‌गलादिरूपी द्रव्यों को ही विषय करता है, आत्मादि अरूपी द्रव्य को नहीं। यह पुद्‌गलद्रव्य और पुद्‌गलद्रव्य से सम्बद्ध जीवद्रव्य की कतिपय मर्यादाओं को जानता है।

(4) **मनःपर्ययज्ञान**– पर के मन में स्थित पदार्थों को जाननेवाला। अन्य व्यक्तियों के मन की बातों का जानना मनःपर्यय है। यह ज्ञान मन के प्रवर्त्तक या उत्तेजक पुद्‌गलद्रव्यों को साक्षात् जाननेवाला है। चिन्तक जैसा सोचता है, उसके अनुरूप पुद्‌गलद्रव्यों की आकृतियॉ–पर्यायें बन जाती हैं। ये पर–मनस्थित पर्यायें मनःपर्ययज्ञान के द्वारा जानी जाती हैं। वस्तुतः मनः पर्यय का अर्थ है मन की पर्यायों का ज्ञान।

(5) **केवलज्ञान**– आत्मा में भूत, भविष्यत् और वर्तमान में स्थित द्रव्य और उनकी समस्त पर्यायों को जानने की क्षमता है; यह ज्ञान आत्ममात्र सापेक्ष होता है। यह ज्ञान समस्त द्रव्यों की त्रिकालवर्त्ती समस्त पर्यायों को जानता है। यह पूर्णतः निर्मल और अतीन्द्रियज्ञान है।

सम्यक्‌चारित्र

सम्यग्‌दर्शन और ज्ञान तभी सफलीभूत होते हैं जब जीव सम्यक् चारित्र के मार्ग पर अग्रसर होता है। भले ही बहुत सारे शास्त्र पढ़े हों, पर चारित्रहीन के लिये वे सब उसी तरह अर्थहीन हैं जैसे अन्धे के लिये जलते हुए हजारों दीपक। इसीलिए कहा गया है कि चारित्र ही धर्म है। चारित्र की भूमिका में जीवन तब ही स्थित हो सकता है जब कि अंतरंग भाव विशुद्ध हों। भाव शुद्धि ही मोक्ष का मार्ग है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचरसार के प्रारम्भ में चारित्र को धर्म कहा है। जैसे सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक्‌चारित्र नहीं होता उसी प्रकार सम्यक्‌चारित्र के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। सम्यक्‌चारित्र ही यथार्थ में धर्म है। उसकी आराधना में सब आराधनाऍ समाविष्ट हैं। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है कि जो कर्मबन्धन को काटकर जीव को संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख (मोक्ष में) धरता है वह समीचीन धर्म है। यह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्–चारित्र रूप है। चोरी, कुशील और परिग्रहणरूप क्रियाओं से निवृत्ति करना सम्यक्‌चारित्र है। चारित्र वस्तुतः आत्मस्वरूप है। यह कषाय और वासनाओं से सर्वथा रहित है। मोह और क्षोभ से रहित जीव की जो निर्विकार परिणति होती है, जिससे जीव में साम्यभाव की उत्पत्ति होती है, चारित्र है। प्रत्येक व्यक्ति अपने चारित्र के बल से ही अपना सुधार या बिगाड़ करता है। अतः मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को सर्वदा शुभ रूप में रखना आवश्यक है। मन से किसी का अनिष्ट नहीं सोचना, वचन से किसी को बुरा नहीं कहना तथा शरीर से कोई निन्द्य कार्य नहीं करना सदाचार है।

साधु चर्या

अहिंसा की पूर्णता की साधना के लिये श्रावक क्रमशः साधु जीवन में प्रवेश करता है। इस तरह वह गुणस्थान क्रम में आगे बढता है। साधु जीवन महाव्रतों की साधना है। अहिंसा आदि व्रतों का सूक्ष्मता से पालन करना महाव्रतों को धारण करना है। इसमें अहिंसा की पूर्णता, ब्रह्मचर्य की अखंडता, सत्य तथा सामान्य उपयोग की भी कोई वस्तु बिना पूछे न लेने रूप अचौर्य का पालन होता है। साधु महाव्रतों की सुरक्षा के लिये समिति और गुप्तियों का पालन करता है। संयमपूर्वक पुस्तक आदि वस्तुओं को उठाना और रखना, संयमपूर्वक चलना, संयमपूर्वक हित, मित और प्रिय वचन बोलना, संयमपूर्वक आहार लेना

तथा संयमपूर्वक दैनिक क्रियाओं को करना पंच समिति का पालन है। मन, वचन और काया की तीन वृत्तियों का संयम गुप्ति का पालन है।

मुनि पाँच महाव्रतों, पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का पालन करता हुआ अन्तरंग एवं बाह्य तपों की भी साधना करता है। इन तपों के द्वारा मुनि निद्रा को जीतता है, ध्यान को दृढ़ करता है। शरीर के ममत्व को त्यागता है, सुख–दुःख में समभावी होता है, स्वाध्याय को बढ़ाता है तथा इन्द्रियों के विषयों के प्रति अनासक्त होता है। तपों के द्वारा विनीत होता हुआ दोषों का परिमार्जन करता है। ये तप मुनि को ध्यान और स्वाध्याय में अप्रमादी बनाते हैं।

श्रावकधर्म की अंतिम श्रेणी से मुनिधर्म प्रारम्भ होता है ,जिसमें आत्मबोध का पूर्ण विस्फोट होता है। आत्मा एवं शरीर की भिन्नता का स्पष्ट अनुभव तथा निर्मल ज्ञान की प्राप्ति मुनिधर्म के लिए आवश्यक है। इस अवस्था में मुनि के आचरण से मूलभूत पांचों व्रतों की पूर्णता का बोध होता है। वह इतना अपरिग्रही एवं निरहंकारी हो जाता है कि आत्मकल्याण के मार्ग में नग्न विचरण कर सकता है। उसका दिगम्बरत्व इस बात का साक्षी होता है कि इस व्यक्ति ने अपनी सभी आवश्यकताएं जगत् पर छोड़ दी हैं। सुरक्षा के प्रति यह पूर्ण अभय है इसके द्वारा साधे जाने वाले व्रत महाव्रत कहलाते हैं , क्योंकि वह उनकी पूर्णता के साथ उन्हें पालन करता है। उसकी अहिंसा प्राणिमात्र तक विकसित हो जाती है। वह जगत् के सत्य भेदविज्ञान को पहिचान लेता है। उसकी मौलिकता उसके व्यक्तित्व से झलकती है। उसकी समस्त षक्तियां आत्मध्यान को निर्मल करती हैं। तथा वह अपनी आत्मा के अतिरिक्त और किसी का स्वामी नहीं होता है।

मुनि के इस स्वरूप को विकसित करने के लिए तथा उसकी सुरक्षा के लिए कुछ अन्य नियम भी हैं, जिनका महावीर के धर्म में विधान है। वह पांच 'समितियों' का पालन करता है। तीन 'गुप्तियों' से रक्षित होता है तथा बारह 'अनुप्रेक्षाओं' में अपने चित्त का षोधन करता है। इनके गर्भित अर्थ को भी जानें।

'समिति' का प्राचीन अर्थ या शासन पर नियन्त्रण। महावीर ने उसे आचरण पर नियन्त्रण के अर्थ में प्रयुक्त किया है। सावधानीपूर्वक अहिंसक षैली में गमन ईर्यासमिति है। सम्प्रेषण का माध्यम भाषा पर नियमन भाषा–समिति है। एषणा–समिति व्यर्थ की आकांक्षाओं और मूर्च्छा से बचाती है। लेन–देन का व्यवहार इतनी सावधानी से करना कि किसी जीव का घात न हो तो वह आदान निक्षेपण समिति है। तथा उत्सर्ग समिति प्रत्येक कार्य को उसके निष्चित एवं उपयुक्त स्थान पर करने की प्रेरणा देती है इससे सामाजिक षालीनता भी बनी रहती है।

गुप्तियों का कार्य कर्मों के आश्रवद्वारों पर नियन्त्रण रखना है। अतः मन,वचन,और काय की प्रवृत्तियों के प्रति सावधान एवं अप्रमादी रहना मुनि के लिए अनिवार्य है तो श्रावक गुहस्थ के लिए आवष्यक भी।

अनुप्रेक्ष्या का अर्थ है पुनः–पुनः तत्वज्ञान का अन्वेक्षण। इससे योग के लिए अनासक्ति भावना का विकास होता है। क्षणभंगुरता, अशरण, संसारभ्रमण एकाकीपन, आत्मा एवं शरीर आदि की भिन्नता, अशुचिता, कर्मो के आश्रव, संवर, निर्जरा, लोकदर्शन, आत्ममार्ग की दुर्लभता एवं सच्चे धर्म के स्वरूप आदि का चिन्तन करते रहने से मुनि अपने को पहिचानने में सषक्त हो जाता है। अतः उसे अपनी धार्मिक प्रवृत्ति में दृढ़ता व स्थिरता प्राप्त होती है। धर्म के स्वरूप को वह उपलब्ध करने का प्रयत्न करने लगता है।'

जैन साधु की चर्या की कठोरता साधु को जान–बुझकर दुःखी करने के उद्देश्य से निर्धारित नहीं की गई है किन्तु उसे सावधान, कष्टसहिष्णु और सदा जागरूक रखने के लिए की गयी है। मुनि क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण, दंश–मशक, नागन्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शयया, आक्रोध, वध याचना आलाभ, रोग, तृण–स्पश, मल, सत्कार–पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इन बाईस परीषहों को सहन करता है। मुनि कष्ट आने पर सभी प्रकार के उपसर्गो को भी शान्तिपूर्वक सहता है। उसके लिये शत्रु–मित्र, महल–श्मशान, कंचन–कांच, निन्दा–स्तुति सब समान हैं। यदि कोई उसकी पूजा करता है, तो उसे भी वह आशीर्वाद देता है और यदि कोई उसपर तलवार से वार करता है तो उसे भी वह आशीर्वाद देता है। उसे न किसी से राग होता है और न किसी से द्वेष। वह राग–द्वेष को दूर करने के लिये ही साधु आचरण करता है। साधु या मुनि की आवश्यकताऍ अत्यन्त परिमित होती हैं।

मुनि–आचार या साधु–आचार का पालन करने के लिये गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र का पालन करना भी आवश्यक है। योगों का सम्यक् प्रकार से निग्रह करना गुप्ति है। गुप्ति का जीवन के निर्माण में बड़ा हाथ है, क्योंकि भावबन्धन से मुक्ति गुप्तियों के द्वारा ही प्राप्त होती है। गुप्ति

प्रवृत्तिमात्र का निषेध कहलाती है। शारीरिक क्रिया का नियमन, मौन धारण और संकल्प–विकल्प से जीवन का संरक्षण क्रमशः काय, वचन और मनोगुप्ति है।

श्वेताम्बर परम्परा की दृष्टि से श्रमणाचार में दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्पराओं में पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। किन्तु गहराई से चिन्तन किया जाय तो प्रकारान्तर से शब्द परिवर्तनों के साथ प्रायः सभी परम्पराओं में सभी मूल तथ्य आ गये हैं। समिति, गुप्ति आदि को श्वेताम्बर परम्परा में मूल गुणों में स्थान न देकर उत्तरगुणों में स्थान दिया है। केश लुंचन आदि को स्वतन्त्र स्थान न देकर उसका समावेश कायक्लेश में किया गया है। आचेलक्य को दस कल्प में प्रथम कल्प माना है; पर मूलगुण नहीं। अस्नानता और अदन्तधावन ये दोनों के आचार में परिगणित हैं, किन्तु मूलगुण में नहीं। स्थितिभोजन श्वेताम्बर परम्परा में नहीं है। क्योंकि श्वेताम्बर परम्परा में आहार स्वस्थान पर लाकर करने का विधान है। गृहस्थ के वहाँ खड़े रहकर भोजन का विधान नहीं है। एकभुक्त व्रत श्वेताम्बर परम्परा में भी प्राचीन काल में रहा था। किन्तु वर्तमान में वह नियम नहीं है। स्वेच्छा से जो श्रमण करना चाहे तो उसका महत्व अवश्य है।

श्रमणाचार के अन्तर्गत अन्य निम्न आचार भी वर्णित हैं–

1. **बारह तप**

   अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश– ये छह बाह्य तप हैं। आभ्यन्तर तप के प्रायश्चित्त विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान– ये छह भेद हैं।

2. **समता, सामायिक**
3. **दश धर्म**

   दश धर्म हैं–– उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य एवं उत्तम ब्रह्मचर्य।

4. **स्वाध्याय**

   1–वाचना, 2–पृच्छना, 3–अनुप्रेक्षा, 4–आम्नाय, 5–धर्मोपदेश

5. **ध्यान**

   ध्यान के चार भेद हैं––आर्त ,रौद्र , धर्म और शुक्ल ध्यान।